भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्गम और विकास

सम्पादक :
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

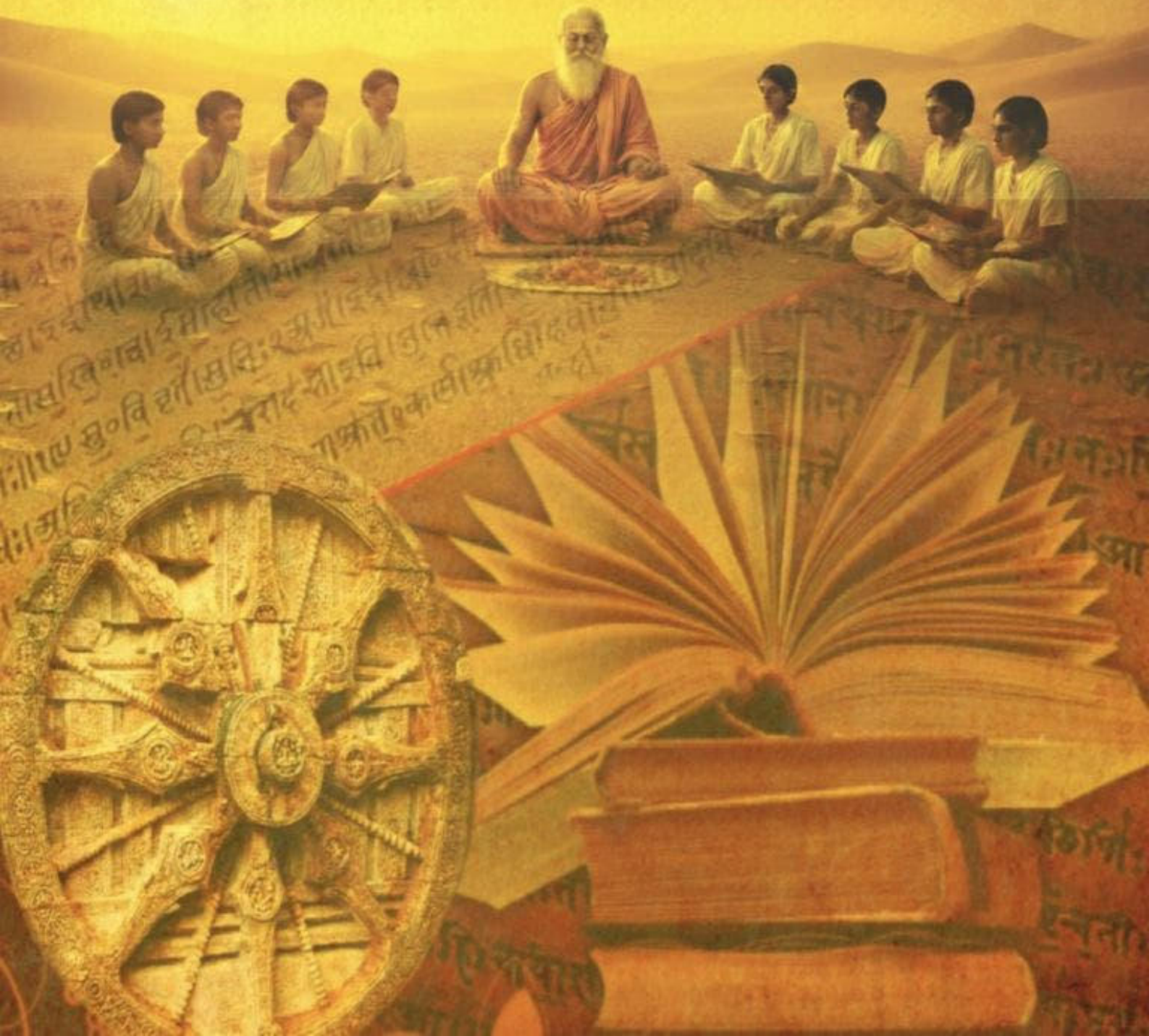

भारतीय ज्ञान प्रणाली
उद्‌गम और विकास

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,
लोहाखान, अजमेर-305001

प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा

Books n Books

51/1509, आचमन, वेदविहार,

लोहाखान, अजमेर-305001

ई-मेल : bnbajmer@gmail.com

मो. 9660111549

संस्करण

प्रथम 2026

***ISBN :* 978-81-993854-1-2**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान प्रणाली-उद्गम और विकास

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

आवरण - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

मुद्रक

श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

17

भारतीय ज्ञान के संदर्भ में वास्तु तथा शिल्प का 'रूपमण्डन'

रितु सारस्वत
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

भारतीय ज्ञान-परम्परा में वास्तु तथा शिल्पशास्त्र का स्थान अत्यन्त प्राचीन, व्यापक और प्रतिष्ठित रहा है। इसकी जड़ें वैदिक साहित्य तक जाती प्रतीत होती हैं और अनेक विद्वान इसे वेदांग अथवा उपवेद से सम्बद्ध मानते हैं। शुल्वसूत्रों में प्राप्त वास्तुपरक विषय यह स्पष्ट करते हैं कि स्थापत्य, मापन और निर्माण की वैज्ञानिक समझ वैदिक युग से ही विकसित होने लगी थी। वास्तु और शिल्प का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि वास्तुशास्त्र के आचार्य प्राय: शिल्प और मूर्तिकला में भी निपुण माने जाते थे। मूर्तिशास्त्र को शिल्पशास्त्र का अंग मानकर ही भारतीय परम्परा में स्थापत्य और कला का समन्वित विकास हुआ।

इसी परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ 'रूपमण्डन' है, जिसमें मण्डन ने स्वयं अपनी कृति को वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत स्थापित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि रूप, सौन्दर्य, प्रतिमा और स्थापत्य को अलग-अलग न मानकर एक समग्र शास्त्रीय दृष्टि से देखा गया। 'रूपमण्डन' वास्तुशास्त्र की उसी दीर्घ परम्परा का अंग है, जिसमें शिल्प, मापन, सौन्दर्यबोध और धार्मिक-दार्शनिक भावनाएँ एक साथ अभिव्यक्त होती हैं।

वास्तुशास्त्र की प्राचीनता का एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण पुराणों और शास्त्रों में उपलब्ध वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं की दीर्घ सूचियाँ हैं। 'बृहत्संहिता', 'मत्स्यपुराण', 'अग्निपुराण', 'मानसार' और 'विश्वकर्माप्रकाश' जैसे ग्रन्थों में विभिन्न आचार्यों, ऋषियों, देवताओं और शिल्पज्ञों के नाम मिलते हैं। इन सूचियों में गर्ग, मय, विश्वकर्मा, वसिष्ठ, मनु, नारद, भृगु आदि के साथ-साथ ब्रह्मा, शिव, विष्णु, इन्द्र, कुबेर जैसे देवताओं का भी उल्लेख है। इन नामों का उद्देश्य ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत करने से अधिक शास्त्र की प्राचीनता, पवित्रता और परम्परागत अधिकार को सिद्ध करना प्रतीत

होता है।

आलोचनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट होता है कि 'मत्स्यपुराण' की अपेक्षा 'अग्निपुराण' और 'मानसार' की सूचियाँ अधिक विस्तृत होते हुए भी कई स्थानों पर पुनरुक्ति और कल्पनात्मकता से युक्त हैं। इनमें सम्मिलित अनेक ऋषि और देवता ऐसे हैं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध वास्तु या शिल्पशास्त्र से प्रमाणित नहीं होता। जिन ऋषियों के नाम पर वास्तु या शिल्प सम्बन्धी ग्रन्थ उपलब्ध भी हैं, वे अधिकांशत: गुप्तोत्तर या पूर्वमध्यकालीन प्रतीत होते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि प्राचीन काल से चली आ रही शिल्प-परम्पराओं को बाद के युगों में संकलित कर ऋषियों और देवताओं के नाम से प्रतिष्ठित किया गया।

पुराणों में मूर्तिकला और वास्तु के प्रकरणों का श्रेय मत्स्य, हयग्रीव और मार्कण्डेय जैसे पात्रों को दिया गया है, पर वस्तुत: यह सम्भावना अधिक है कि गुप्त तथा गुप्तोत्तर काल में जब पुराणों का संकलन हुआ, तब समाज में प्रचलित स्थापत्य और शिल्प परम्पराओं को विद्वानों ने एकत्र कर पौराणिक रूप प्रदान किया। यही स्थिति मय, प्रह्लाद आदि असुर परम्परा से जुड़े वास्तुप्रणेताओं के विषय में भी दिखाई देती है। यहाँ आर्य और अनार्य, दोनों परम्पराओं के दीर्घकालीन शिल्पज्ञान का समन्वय हुआ है।

उपलब्ध मूर्तिप्रकरणात्मक ग्रन्थों के आधार पर यह स्पष्ट है कि मूर्तिशास्त्र की प्राचीन परम्परा प्रारम्भ में मौखिक रही और पूर्वगुप्त अथवा गुप्त युग में उसका लिपिबद्ध संकलन हुआ। गुप्तकाल में शिल्प और मूर्तिकला से सम्बन्धित ज्ञान को शास्त्रीय रूप प्रदान किया गया, जिसका प्रमाण 'बृहत्संहिता' का मूर्तिप्रकरण, मत्स्यपुराण तथा गुप्तकालीन 'विष्णुधर्मोत्तर पुराण' में मिलता है। अग्निपुराण का संकलन अपेक्षाकृत बाद का, अर्थात् दशमी शती के आसपास का माना जाता है।

आठवीं और नवीं शती में आगम साहित्य का विशेष प्रसार हुआ, जिसमें क्रियापाद के अन्तर्गत मूर्तिशास्त्र को प्रमुख स्थान दिया गया। इस काल में मूर्तिविधान पूजा, प्रतिष्ठा और उपासना से घनिष्ठ रूप से जुड़ गया। आगमों के इस पक्ष का गहन अध्ययन श्री गोपीनाथ राव ने किया और वैष्णव तथा शैव मूर्तियों के विवेचन में उनका व्यापक उपयोग किया। हयशीर्ष पञ्चरात्र, वैखानस, सुप्रभेद, किरण, कामिक और अंशुमद्भेद आगम जैसे ग्रन्थ मूर्तिशास्त्र की सुदृढ़ और विकसित परम्परा के महत्त्वपूर्ण प्रमाण हैं।

पूर्व मध्यकालीन युग में वास्तुशास्त्र परम्परा :

पूर्व मध्यकालीन युग भारतीय इतिहास और संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त सक्रिय

रहा। मुस्लिम आक्रमणों के कारण राजनीति और संस्कृति को गहरा आघात अवश्य पहुँचा, विशेषत: मूर्तिकला और मूर्तिशास्त्र को, क्योंकि इस्लामी दृष्टि में मूर्तिपूजा विरोध का विषय थी। इसके बावजूद हिन्दू जीवन और संस्कृति पूर्णत: नष्ट नहीं हुई, बल्कि आत्मरक्षा और संरक्षण की भावना के साथ प्राचीन ग्रन्थों, परम्पराओं और शिल्पज्ञान को सुरक्षित रखने के प्रयत्न तेज हुए।

इस युग के वास्तु और शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेखनीय मौलिकता दिखाई देती है। पूर्ववर्ती परम्पराओं को सँजोते हुए नवीन प्रयोगों और उद्भावनाओं के प्रति भी आस्था व्यक्त की गई। प्राचीन और नवीन का जैसा समन्वय इस काल में हुआ, वैसा अन्य किसी युग में दुर्लभ है। इसी कारण प्राचीन परम्पराएँ नये रूप में जीवित रहीं और 'पुरा नवं भवति' की उक्ति सार्थक हुई।

यद्यपि इस काल के अधिकांश शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थ अप्रकाशित, खण्डित या दुष्प्राप्य हैं, फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ गुप्तोत्तर परम्परा को समझने में सहायक हैं। 'मानसार' और 'मयमत' जैसे ग्रन्थों में प्राचीन परम्पराएँ सुरक्षित हैं और 'मयमत' का विशेष प्रभाव सूत्रधार मण्डन के 'रूपमण्डन' पर पड़ा। धाराधिप भोज का 'समराङ्गणसूत्रधार' ग्यारहवीं शती में वास्तु और मूर्तिशास्त्र का समृद्ध ग्रन्थ है। बारहवीं शती में सोमेश्वरदेव तृतीय ने 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' में प्रचलित शिल्प परम्पराओं का संकलन किया।

गुजरात की शिल्प परम्परा को संकलित करने वाला भुवनदेव का 'अपराजित पृच्छा' भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका उपयोग सूत्रधार मण्डन ने किया। तेरहवीं शती में हेमाद्रि और गोपाल भट्ट जैसे विद्वानों ने भी मूर्तिशास्त्रीय परम्पराओं का सुव्यवस्थित संकलन किया। 'शिल्परत्न' की तिथि विवादास्पद है, पर उसका सम्बन्ध भी इसी दीर्घ परम्परा से जुड़ा माना जाता है।

शिल्पशास्त्रों का मध्यकालीन मूर्तिकला पर प्रभाव :

शिल्पशास्त्रों के विषय में यह आरोप लगाया जाता रहा है कि उन्होंने मध्यकालीन मूर्तिकला को यान्त्रिक बना दिया और कलाकार की स्वाभाविक सौन्दर्य-अभिव्यक्ति को सीमित कर दिया। इस दृष्टि से कहा जाता है कि इस युग की मूर्तियाँ तकनीकी रूप से सुसंस्कृत तो हैं, पर महान् नहीं, क्योंकि कलाकार की अनुभूति शास्त्रीय नियमों में बँधकर उपासना का एक साधन मात्र बन गई। परिणामस्वरूप न प्रतिमा कलाकार की आन्तरिक सौन्दर्य-अनुभूति का सजीव रूप बन सकी और न ही उपासक से गहरा भावात्मक सम्बन्ध स्थापित कर पाई।

डॉ. आनन्द कुमारस्वामी ने मध्ययुगीन कला को यान्त्रिक अवश्य माना, किन्तु

इसके लिए शिल्पशास्त्रों को उत्तरदायी नहीं ठहराया। उनके अनुसार यह यान्त्रिकता कला-विकास की स्वाभाविक अवस्था है, जिसमें कला प्रारम्भिक, उत्कर्ष, पारम्परिक और यान्त्रिक चरणों से होकर आगे बढ़ती है। वे नवीं से बारहवीं शती की मूर्तिकला को इसी प्रक्रिया का परिणाम मानते हैं।

वास्तव में भारतीय कला के संदर्भ में 'मध्यकालीन मूर्तिकला' शब्द स्वयं भ्रम उत्पन्न करता है। गुप्तोत्तर कला न तो पाश्चात्य मध्यकालीन कला के समान है और न ही भारतीय मूर्तिकला की कोई मध्यवर्ती अवस्था। यह गुप्तकालीन परम्पराओं का ही क्रमिक और स्वाभाविक विकास है, जो बाह्य ऐतिहासिक कारणों से बाधित हुआ।

सातवीं और आठवीं शती की मूर्तिकला केवल गुप्तकालीन परम्पराओं की पुनरावृत्ति नहीं, बल्कि नये प्रयोगों और व्यापक दृष्टि से सम्पन्न है। इस काल में हिन्दू, बौद्ध और जैन—तीनों परम्पराओं में मूर्तिकला का विस्तार हुआ और धार्मिक-दार्शनिक तत्त्वों की सशक्त अभिव्यक्ति सम्भव हुई। आठवीं शती की कला में, जैसा कि डा0 वासुदेवशरण अग्रवाल ने कहा है, कोमलता के स्थान पर विराट् और महत्त्वपूर्ण भावों का उदय हुआ। इस प्रकार शिल्पशास्त्रों के प्रभाव में मध्यकालीन मूर्तिकला यान्त्रिक नहीं, बल्कि नये ओज, व्यापकता और दार्शनिक चेतना से युक्त रूप में विकसित हुई।

'शुक्रनीति' में शिल्पी के लिए यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि प्रतिमा-निर्माण में शोभा और पटुता, दोनों का ध्यान अनिवार्य रूप से रखा जाए। प्रतिमा का सौन्दर्य केवल किसी एक अंग, जैसे मुख या देह की बाह्य आकृति से नहीं बनता, बल्कि उसके समग्र प्रभाव से प्रकट होता है। इसमें तालमान, अनुपात और संरचना जैसे तत्त्व भी उतने ही आवश्यक हैं। सौन्दर्य का मानदण्ड व्यक्तिगत अनुभूति नहीं, बल्कि शास्त्र, परम्परा और सामाजिक भावनाओं से निर्धारित होता है। इसी कारण 'शुक्रनीति' में कहा गया है कि जो शास्त्रीय मान से रमणीय है, वही वास्तव में रमणीय है; शास्त्रीय मर्यादा से रहित सौन्दर्य को विवेकी जन स्वीकार नहीं करते।

इस दृष्टि से भारतीय मूर्तिकला में यह धारणा विकसित हुई कि कलात्मक सौन्दर्य की पूर्णता आध्यात्मिक सौन्दर्य के साथ ही सम्भव है। भारतीय प्रतिमा का उद्देश्य केवल सौन्दर्यानुभूति कराना नहीं, बल्कि देवसान्निध्य का अनुभव कराना भी है। यह गुप्तकालीन कला-भावना का ही स्वाभाविक विकास है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक सौन्दर्य का समन्वय दिखाई देता है। गुप्तकालीन प्रतिमाओं के मुख पर जो दिव्य द्युति दिखाई देती है, वह इसी आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति है, यद्यपि यह गुण सभी प्रतिमाओं में समान रूप से नहीं मिलता।

मध्ययुग, विशेषत: ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद, इस आध्यात्मिक तत्त्व को प्रतीकों, आयुधों और अलंकरणों के माध्यम से अधिक सार्वजनीन बना दिया गया। अब प्रतिमा का देवत्व केवल आन्तरिक आभा तक सीमित नहीं रहा, बल्कि बाह्य प्रतीकों द्वारा भी स्पष्ट होने लगा। यह विश्वास भी प्रचलित हुआ कि प्रतिमा की सुन्दरता स्वयं देवता को आकृष्ट करती है। इसी कारण इस युग में मूर्तियों के अलंकरण पर विशेष बल दिया गया, जिसका प्रभाव पाल कला में विशेष रूप से दिखाई देता है। इससे एक ओर देवता की उपस्थिति का बोध सुदृढ़ हुआ और दूसरी ओर उपासक भी आकृष्ट हुआ।

फिर भी यह समझा जाता था कि वास्तविक आध्यात्मिक सौन्दर्य बाह्य रूप में नहीं, बल्कि ध्यानावस्था में अनुभव किया जाता है। ध्यान में प्रतिमा का बाह्य रूप गौण हो जाता है और भौतिक तथा आध्यात्मिक सौन्दर्य का एक प्रवाह भक्त के अन्त:करण में प्रकट होता है। इसी भावना से 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' का सिद्धान्त प्रचलित हुआ। इसी का परिणाम है कि बटुक भैरव जैसी प्रतिमाओं में भी भीषणता के साथ बालसुलभ कोमलता का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। इस युग में यह मान्यता दृढ़ हुई कि देवता का वास्तविक रूप वही है, जो शिल्पी या भक्त के मन में भावरूप में प्रतिष्ठित है। इसी कारण प्रतिमा-लक्षण का आधार सेवक-सेव्य भाव को माना गया।

इससे यह स्पष्ट होता है कि मध्ययुग के शिल्पी शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए भी अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार स्वतंत्र कल्पना करने के लिए पूर्णत: स्वाधीन थे। 'शुक्रनीति' स्वयं यह स्वीकार करती है कि शिल्पी अपनी रुचि के अनुसार प्रतिमा की कल्पना कर सकता है।

सूत्रधार मण्डन के सम्बन्ध में प्रकाशित एक ताम्रपत्र लेख से यह संकेत मिलता है कि वह मूलत: गुजराती था और सम्भवत: अपने पिता के साथ महाराणा मोकल के समय में मेवाड़ आया था। यद्यपि इस लेख की प्रामाणिकता और तिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद है, फिर भी यह मान्यता स्वीकार्य है कि मण्डन बाद में, महाराणा कुंभा या कुंभकर्ण के काल में, एक निपुण और प्रतिष्ठित शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हुआ। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सूत्रधार मण्डन शास्त्रीय परम्परा और व्यक्तिगत प्रतिभा—दोनों के सन्तुलन का प्रतिनिधि शिल्पी था।

सूत्रधार मण्डन ने स्वयं 'रूपमण्डन' में अपने पिता का नाम 'क्षेत्र' तथा अपना निवास मेदपाट (मेवाड़) बताया है। यह कथन आत्मवचन होने के कारण अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है और इससे ताम्रपत्र लेख में वर्णित परम्परा को पूर्णत: अस्वीकार

नहीं किया जा सकता। यद्यपि ताम्रपत्र का काल विवादास्पद है, फिर भी उसमें निहित ऐतिहासिक स्मृति या अनुश्रुति असत्य प्रतीत नहीं होती।

मण्डन महाराणा कुंभा के काल में एक प्रतिष्ठित सूत्रधार के रूप में विख्यात हुआ। वह केवल कुशल शिल्पी ही नहीं था, बल्कि शास्त्रज्ञ और शास्त्र-प्रणेता भी था। उसने प्राचीन शिल्प एवं वास्तु परम्पराओं का गहन अध्ययन कर, उन्हें अपनी व्यक्तिगत प्रयोगात्मक अनुभूतियों के साथ समन्वित किया। उसकी रचनाओं में मत्स्यपुराण, अपराजितपृच्छा, हेमाद्रि और अन्य परम्परागत ग्रन्थों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

सूत्रधार मण्डन के अनेक ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न विद्वानों की सूचियों में मिलता है, किन्तु मूर्तिशास्त्र के क्षेत्र में उसका स्वतंत्र और प्रामाणिक ग्रन्थ 'रूपमण्डन' ही माना जाता है। 'देवतामूर्ति प्रकरण' और 'रूपावतार मण्डन' नामक ग्रन्थ वस्तुत: उसी परम्परा की प्रतिलिपियाँ या रूपान्तर प्रतीत होते हैं, जिनमें श्लोक-संख्या और पाठभेद लिपिकारों की असावधानी के कारण उत्पन्न हुए हैं। उपलब्ध पाण्डुलिपियों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि 'रूपमण्डन' का दीर्घकाल तक व्यवहार होता रहा।

मण्डन को प्रतिमा-निर्माण का प्रत्यक्ष व्यावहारिक अनुभव था। परम्परा के अनुसार कुंभलगढ़ दुर्ग का निर्माण उसकी देख-रेख में हुआ और वहाँ से प्राप्त कुछ प्रतिमाएँ 'रूपमण्डन' के निर्देशों के अनुरूप प्रतीत होती हैं। आगे चलकर उन्नीसवीं शती में 'रूपमण्डन' की टीकाएँ और गुजराती अनुवाद भी रचे गये। इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रधार मण्डन का योगदान भारतीय मूर्तिशास्त्र और वास्तु परम्परा में न केवल सैद्धान्तिक बल्कि व्यावहारिक और दीर्घकालीन रूप से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है।

निष्कर्षत: भारतीय मूर्तिकला शास्त्रीय नियमों, परम्परा और आध्यात्मिक भावना के समन्वय से विकसित हुई। प्रतिमा का उद्देश्य केवल बाह्य सौन्दर्य नहीं, बल्कि देवसान्निध्य की अनुभूति कराना रहा। गुप्तकाल की परम्पराएँ मध्ययुग में प्रतीक, आयुध और अलंकरण द्वारा अधिक स्पष्ट और सार्वजनीन बनीं। सूत्रधार मण्डन इस परम्परा का प्रमुख प्रतिनिधि था, जिसने शास्त्र और व्यवहार दोनों को जोड़कर 'रूपमण्डन' जैसे ग्रन्थों के माध्यम से मध्ययुगीन मूर्तिशास्त्र को सुदृढ़ रूप प्रदान किया।

☆☆☆